

धर्म : एक दार्शनिक विवेचन

हरिकेश कुमार त्रिपाठी*

विद्वत् समुदाय के सम्मुख किसी समस्या की उत्पत्ति तदनन्तर उस समस्या के विषय में जानने की इच्छा 'जिज्ञासा' और अन्त में जिज्ञासा के फलस्वरूप मस्तिष्क पटल पर उद्भूत उस समस्या के समाधान हेतु विविध प्रश्न या विचार ये तीन बिन्दु ही दार्शनिक चिन्तन के प्रेरक हैं। दर्शन शब्द की उत्पत्ति दृश् ज्ञाने धातु से प्रेरणार्थक ल्युट प्रत्यय के संयोग से हुई है जिसका तात्पर्य है किसी भी समस्या को जानकर उसके निराकरण हेतु चिन्तन-मनन करना और यथाविधि परिहार हेतु कार्य करना। ऋग्वैदिक काल से ही मानवमात्र इस विषय पर विचार करता चला आ रहा है कि वह व्यक्तिगत एवं साथ ही साथ सामूहिक जीवन धारा (सांसारिक लोक व्यवहार, मानवजगत) को किस ओर प्रेरित कर सम्पूर्ण विकास और योगक्षेम को प्राप्त कर सके। समस्त दार्शनिक पद्धतियों में इसीलिए ही चारित्रिक शुद्धता पर विशेष बल दिया गया है। चरित्र को शुद्ध और परिमार्जित करके मानवमात्र के कल्याण और परम गन्तव्य की प्राप्ति हेतु ही कुछ विशेष नियमों की व्यवस्था बनाई गई जिसे 'धर्म' नामक संज्ञा विशेष से जाना जाता है।

भारतीय संस्कृति में धर्म की परिभाषा "धारणाद् धर्ममित्याहुः" दी गई है, अर्थात् जिसके द्वारा प्रजा (मनुष्य) सुरक्षित रहें वह धर्म है मानवता के अस्तित्व की रक्षा जिससे हो वह धर्म है। 'धर्म' शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेदः प्रथम मण्डल/22वें सूक्त/18वें मन्त्र में हुआ है—

"त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः"

"अतो धर्माणि धारयन्"

ऋग्वेद में धर्म के मार्ग को सुगम और कल्याणकारी बताया गया है—"सुगा ऋतस्य पन्थाः"¹ और धर्म की कल्पना एक नाव के रूप में की गयी है—सत्यस्य नावः सुकृतमपरियन्² छान्दोग्योपनिषद् में धर्म के स्कन्धत्रय की चर्चा की गई है—"त्रयो धर्म स्कन्धाः" ये तीन स्कन्ध हैं—ब्रह्मचारी, तपस्वी एवं गृहस्थ। स्कन्धत्रय के लिए वर्णित कर्तव्यों को करना ही धर्म कहा गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता में भी कर्तव्यनिष्ठा को ही वास्तविक धर्म कहा गया है। पूर्वमीमांसा में "यागादिरेव धर्मः" इस प्रकार कहा गया है। वैशेषिक सूत्रों में "यतोऽभ्युदयनिः

श्रेयस सिद्धिः स धर्मः" कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जिस कर्तव्य का पालन करने से इहलौकिक (व्यावहारिक) एवं पारमार्थिक द्विविध कल्याण की प्राप्ति हो सके वहीं धर्म है।

सामान्य शब्दों में धर्म वह है—जो स्वयं को अप्रिय लगे, अरुचिकर प्रतीत हो उसे दूसरे के लिए लागू न करना। यही मानवता और मनुष्यत्व के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का सर्वसुलभ पथ है। इसी धर्म की परिभाषा शास्त्रों में व्यावहारिक और पारलौकिक द्विविध रूपों में की गयी है। भारतीय संस्कृति में यह माना जाता है कि मनुष्यता का लक्ष्य पूर्णता की प्राप्ति है। पूर्णतारूपी परम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु मूल्यानुसंधान नितान्त अपरिहार्य है जो धर्म के माध्यम से ही सम्भव है। इसीलिए कहा गया है कि धर्म से रहित या विरत व्यक्ति पशुवत् है "धर्मेण हीनः पशुभिः समाना"। धर्म की व्याख्या यदि जीवन या नैतिक मूल्यों के रूप में किया जाए तो हम पाते हैं कि समस्त धार्मिक कर्म (धर्मानुकूल क्रियाकलाप) किसी जाति विशेष, काल विशेष, देश विशेष के लिए न होकर सम्पूर्ण प्राणिमात्र के लिए है। इस प्रकार धर्म की द्विविध कोटि हमारे सम्मुख उपस्थित होती है।

1. सामान्य धर्म की कोटि
2. शास्त्रानुकूल धर्म/वेद विहित

प्रथम कोटि सबके लिए करणीय कर्म है। द्वितीय वेद विहित कर्म है, जिसका पालन करना सबके लिए अनिवार्य नहीं है। आचार्य मनु ने धर्म के चार लक्षण बताये हैं।³ धर्म के पालन हेतु संस्कार एवं संयम की अपरिहार्यता होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि विशेष विधियों तथा मान्यताओं का नाम धर्म नहीं है बल्कि धर्म एक अनुशासन है।⁴

सत्य, अहिंसा का पालन सर्वजन कल्याण हेतु करणीय है। सत्य का पालन ही उपनिषदों में धर्म के प्रथम सोपान के रूप में स्थापित है। "सत्यं वद् धर्मं चर"⁵ "तदेतानि जपेदसतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय"⁶ "तस्मादेतत्त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति"⁷

मानवता से सम्बन्धित धर्म ही वास्तविक धर्म है।⁸ कर्तव्यों का पालन और मानवमात्र को आत्मवत् समझना ही सनातन धर्म है। मनुस्मृति के अनुसार वित्त, बन्धु, वय, कर्म और विद्या ये पांच मान के स्थान प्रतिपादित किये गये हैं तथा ये अभ्युदय के रूप में धर्म के फल प्रतीत होते हैं।

धर्म एक सर्वव्यापक अभिवृत्ति है। जो आदर्शपूर्ण विषय के प्रति आस्था से उत्पन्न होती है। धार्मिक व्यक्ति इस अभिवृत्ति को सदैव बनाये रखने के लिए तर्क-वितर्क, श्रवण-मनन की भी मदद लेता है। इसलिए धर्म में भी युक्तियों का स्थान है। सृष्टि के आरम्भकाल से ही एक बात तो स्पष्ट है कि मानव किसी न

*शोधच्छात्र, संस्कृत-विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

किसी धर्म से अवश्य जुड़ा रहता है। धर्म के बिना उसकी स्थिति ही नहीं हो सकती है। वेदों के अनुसार एक ही मत है जिसे लोग विभिन्न रूप देते हैं।⁹ धर्म मानव का स्वभाव गुण है। भारतीय धर्म-परम्परा के अनुसार मानव का सांसारिक जीवन उसके अज्ञान के कारण है परन्तु उसका अपना स्वाभाविक स्वरूप एकदम शुद्ध है। अतः उसका अपना शुद्ध सात्विक स्वरूप उसे उत्प्रेरित करता रहता है कि वह स्वकीय स्वाभाविक रूप सत्-चित्-आनन्दस्वरूप को प्राप्त करे। धर्माचरण वह विधि है जिसके आधार पर मानव अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त करता है। इसीलिए कहा जा सकता है कि मानव के अन्दर पूर्णता प्राप्ति की प्रेरणा पायी जाती है। यही कारण है कि मानव अपने को पूर्ण बनाने के लिए धर्म की शरण लेता है और जब मानव स्वयं को शुद्ध धर्म चेतना और इसके अपने विषय अर्थात् परम अतीत में ही सीमित रखता है तो विभिन्न धर्मों के रहने का अवकाश ही नहीं बचता है।

सभी धर्मों का सामान्य विषय परम अतीत है। जिसके संदर्भ में कहा जाता है कि वह है, परन्तु वर्णनातीत है। उसके गुण, स्वभाव, इत्यादि को व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। ब्रह्म का साक्षात्कारकर्ता ब्रह्मविद् हो सकता है, परन्तु वह अनिर्वचनीय वर्णनातीत ही रहता है। किसी भी भाषा के द्वारा साक्षात् रीति से वह व्यक्त नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार गूंगा गुड़ का अस्वादन तो करता है परन्तु उसकी जिह्वा मधुर स्वाद का वर्णन कर पाने में स्वयं को असमर्थ पाती है। ठीक उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी का अनुभव है।

भारतीय धर्म दर्शन प्रायः एकत्ववादी है। धर्म समन्वय के दृष्टिकोण से गीता का सर्वप्रमुख स्थान है। गीता में ईश्वरवाद, रहस्यवाद, एकत्ववाद इत्यादि अनेक धाराओं का सन्तुलन दृष्टिगोचर होता है।¹⁰ भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो भक्त श्रद्धा से दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं वे भी मुझे ही अविधिपूर्वक पूजते हैं।¹¹ सांख्य, योग, शैव, वैष्णव इत्यादि अनेक मत हैं जिन्हें लोग अपनी रूचि के अनुसार विभिन्न रीति से अपनाते हैं। कोई किसी एक को और कोई अन्य को उत्तम समझता है। तो भी इन सभी का एक ही प्राप्ति स्थान, लक्ष्य स्थान है। कुछ मार्ग सीधे और सरल है और कुछ टेढ़े और दुरुह। सत्य सर्वव्यापक होता है। इस पर किसी जाति या गुण का एकाधिपत्य नहीं माना जा सकता है। वही मूल सत्य ही विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की नानाविध धर्मपुस्तकों में, अनेक भाषाओं के माध्यम से प्रकाशित किया गया है। जबकि धर्म का क्षेत्र अकथनीय अनुभूति है। धर्म मानव का स्वाभाविक गुण है, और प्रत्येक मानव में किसी न किसी धर्म को अपनाकर अपनी पूर्णता प्राप्त करने की जन्मजात प्रेरणा पायी जाती है। जब भी किसी व्यक्ति विशेष को यह प्रतीत होता है कि उसे सर्वोत्तम आदर्शरूप प्राप्त हो गया है जो वह प्राप्त करना चाहता था तब वही अवस्था जीवन-परिवर्तन कही जाती है। जीवन-परिवर्तन किसी एक अमुक धर्म की निधि नहीं है। सामान्य रूप से धर्म का

अभिप्राय है कि जिस व्यवस्था के कारण व्यक्ति में निहित सभी पाशविक वृत्तियाँ उदात्तरूप ले लेती हैं और व्यक्ति उर्ध्वदिशा में अनुप्राणित हो जाता है। तब यह परिवर्तन व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित न करके विश्व कल्याण की भावना से ओतप्रोत कर देता है।

सन्दर्भ :-

1. ऋग्वेद 8,3,13
2. ऋग्वेद 7.73.1
3. "वेदः स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्। (मनुस्मृति 2/12)
4. Dr. R. Krishnan-Religion & Society
5. तैत्तिरीय 01.011.1
6. वृहदारण्यक
7. वृहदारण्यक 0 5.2.3
8. धर्म एवं संस्कृति: पेज-18, रमा पाण्डेय
9. एक सद्धिप्रा: बहुधा वदन्ति। (ऋग्वेद) भगवद्गीता-9/23-25
10. जगतः स्थितिकारणम् प्राणिनां साक्षात् अभ्युदयनिः श्रेयसहेतुः यः स धर्मो ब्राह्मणाद्याः ये वर्णिभिः आश्रमिभिः च श्रेयः अर्थिभिः अनुष्ठीयमानः। (गीताशांकरभाष्यः उपोद्घात)
11. येष्प्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेदपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।। (गीता 9/25)

